* ओ३म् *

वेदविरुद्धमतखण्डनः

अयङ् ग्रन्थः श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः

तच्छिष्यभीमसेनशर्म्मकृतभाषानुवादसहितः

❀ ओ३म् ❀

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च–

१—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम, कश्चास्यार्थः ?

१—(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ?

२—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः, प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः।

२—(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य्य है, इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है।

३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम, भवन्तश्च के ?

३—(प्र०) आचार्यपन क्या है, और आप कौन हैं ?

४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः।

४—(उ०) गुरु को आचार्य कहते हैं, और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं।

५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ?

५—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ?

६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः।

६—(उ०) उपदेश करना, इसको हम गुरुपन कहते हैं।

७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ?

७—(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ?

८—(उ०) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात्, किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति। न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। अन्यच्च, सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम्। मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात्। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठङ्गुरुं समुपगच्छेद्" इति श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात्।

"उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षते" ॥

इति मनुमतविरोधात्। मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम्। तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च। तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गतं तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात्।

८—(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं हो सकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना सम्भव नहीं, किन्तु कोई वैसा है। द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने-अपने सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है, अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और भी देखो कि जीवतों में सबकी प्रीति होने, मरे हुओं में न होने, और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से उस पुरुष में 'वल्लभत्व' अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता, और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि—"वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे।" इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और—"जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसको आचार्य कहते हैं", इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने पश्चात् पढ़ना-पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं, वे नहीं हो सकते क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है। इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है। और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है।

९—(प्र०) किङ्गुरुत्वं, सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ?

९—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है?

१०—(उ०) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात्। "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वात्, मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति भवतां तेन तुल्यत्वाच्च।

नान्यः, असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च । स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ।

"निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते" ।।

इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति । भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमन्त्रोपदेशञ्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ।

१०— (उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं । यदि कहो कि हैं, तो तुम्हारा कहना असङ्गत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है । धर्मशास्त्र में कहा है कि—"अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है ।" इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है । स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है, और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डालादि के तुल्य मृतक के वस्त्र, आभूषणादि पदार्थों को लेते हो, इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए ।

और द्वितीय पक्ष, असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध, और दोनों गुरु शिष्य दुःखफलभागी होते हैं । अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है । अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता । धर्मशास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहाता है" । इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है । और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है, इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है । यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते ? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बाँधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ । यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये ।

११—(प्र०) भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा ?

११—(प्र०) आप लोग गुरु, शिष्य वा मध्यस्थ हो ?

१२—(उ०) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ?, शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद् ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

१२—(उ०) यदि गुरु हो, तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है, यह निश्चय जानना चाहिये ।

१३—(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा ?

१३—(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो, वा वेदमत के विरोधी हो ?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यते ?, वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते–"नास्तिको वेदनिन्दकः" ।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।"

इति मनुसाक्ष्यविरोधात् । पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जडमूर्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन् पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति ?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो, तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो ?, यदि वेदविरोधी हो, तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि--"वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है । और "जो वेद को न पढ़के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है, वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" । इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो । फिर जन्मने-मरनेवाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्री कृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ?

१५—(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ?

१५—(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं, वा मनुष्यपन की ?

१६—(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते ?, तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ?, मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ।

१६—(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ?, श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त हो गये आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७—(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये, वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ?

१७—(प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ?

१८—(०उ) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो, विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् । यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ।

१८(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण के 'तस्येदम्' इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्ति विशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया, वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१९—(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ?

१६—(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ?

२०—(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम, इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् । चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत् सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् । कुतः, संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति । संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न

एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा। ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव—"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

२०—(उ०) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति, देहधारी कहते हो, तो व्यापक होना छोड़ो। यदि चतुर्भुजादि आकृतिवाला मानते हो तो सावयव, उत्पत्ति धर्मवाला, अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो। क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता। और संयोग अनित्य है, इससे संयोग-वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है। वेद में कहा है कि—"ईश्वर शरीर, छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निष्पाप, सर्वत्र व्यापक है।" इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है।

२१—(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम्?

२१—(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्ति के पूजने में पुण्य होता है, वा अपुण्य?

२२—(उ०) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः। स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च। तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत, इति जल्पामः। वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते। अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव।

२२—(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं, ऐसा कहते हो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्त्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने, चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो। यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कंठी, तिलकधारण और पाषाणमूर्त्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है, इसलिये आपका कथन व्यर्थ है।

२३—(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम?

२३—(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है?

२४—(उ०) पाषाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति, नैवं शक्यं वक्तुम्। कथं, प्राणादीनान्तत्कर्मणान्तत्रादर्शनात्। यदि

तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ?, यदि प्राणादीनां यत्र-कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ?, भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति। किञ्च, पाषाणादिमूर्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति, न नाड्यश्छिद्राणि च। मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव, प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते। यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति, तस्मात्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम्।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः। कुतः, ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम्। तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति। एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम्। ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति, तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः।

ईश्वरःसर्वव्याप्यस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येऽप्यस्ति, पुनस्तत्पूजने को दोषः, खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ! एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति ? कुतः, सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात्। नो चेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति। तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चित् ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे राजास्तीति, तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति, तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम्।

२४—(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्त्तियों में वेदमन्त्रद्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापना करना प्रतिष्ठा है, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती। जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ?। यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापना करने को शक्ति तुम लोगों में है, तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापना कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से

तुमको बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी। और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने-आने का अवकाश ही नहीं, न नाड़ी और इन्द्रिय छिद्र हैं, और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है। केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं। सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ, तब तो किसी का मरण हो न होवे, इससे बड़ा पुण्य होगा। इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे, ऐसा मनुष्य न हुआ, न होगा क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ, न होगा, यह निश्चय जानना चाहिये। जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं, यह ईश्वरकृत नियम है, इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये। ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं, वे कभी चेतन नहीं होते। वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते, यह निश्चय है।

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है, तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चंदन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है। जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा, वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिसजाना भी सम्भव है। यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते?, जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटी सी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ती राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं, उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है, वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा, यह जानना चाहिये।

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम्?

२५—(प्र०) छोटी-छोटी बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है, वा पाप?

२६—(उ०) नाद्यः, कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम्। अन्यच्च, वेदानभिहितपाषाणादिमूर्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियतान्नोचेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम्। न चरमः, कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात्। मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः। तत्पूजनम्मुक्तिसाधन-

ञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्वाच्चेति ।

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं क्योंकि यदि छोटी-छोटी पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है, तो बड़ी-बड़ी पीतल आदि की घण्टादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है, ऐसा जानो । और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्ति के पूजन में महापाप ही होता है ऐसा मानो, यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा, तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है । यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है, तो ठीक नहीं क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है, तो अन्य को क्या मूर्त्ति [= मुक्ति] दे सकेगी ।

२७—(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानञ्चा वा युक्तिः ?

२७—(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ?

२८-(उ०) हरिपदाकृतित्वम् । कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं, ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः । हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् । अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादतएव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम् । किञ्च तिलकत्वमिति ?, त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः । नैवं वक्तुमुचितम् । तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलकं वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ।

२८—(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार-तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । हरि शब्द से किसको लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं । यह कहना ठीक नहीं क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है, उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है, इसीसे पापकारी है, यह जानना चाहिये । तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये, यह सिद्ध है, तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन को तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है, यह निश्चय जानना चाहिये ।

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

२६—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पुण्य होता है, वा पाप ?

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति, कुतः, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः ।

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि 'जिसकी भावना जैसी होती है, उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है' ।

३१—(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ?

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ?

३२—(उ०) न प्रथमः, कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च, पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या । न द्वितीयः, कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवतीत्यतः । यदि भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभानवनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि, यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा ।

पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तण्डुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिश्चक्रवर्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् ।

तर्हि भावना का नाम ?

भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति । तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमोह्यभावना चेति ।

३२—(उ०) पहिला पक्ष—भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं, फिर भी सबको सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है, इससे भावना सत्य नहीं । दूसरा पक्ष—भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के विना विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य भावना करना ठीक

है। यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुंचती है, उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हमको पहुँचा देवे, तब तो भावना ठीक, नहीं तो मिथ्या।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध, दही, घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी-दरिद्र अपने में चक्रवर्त्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे और वह वैसी ही ठीक-ठीक सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये।

तो फिर भावना किसका नाम है?

पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है। अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि, भ्रमरूप अभावना कहाती है।

३३—(प्र०) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते?

३३—(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो?

३४—(उ०) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः।

३४—(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्ति को लेते हैं।

३५—(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते?

३५—(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो?

३६—(उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा। किञ्चाऽनया प्रतिमीयते?, ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः। किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलङ्कृतङ्किमतोऽयमर्थः क्रियते?

"तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेद्॥"

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम्। प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः। "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति यजुस्संहितायां द्वात्रिंशेऽध्याये। ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात्। अत एव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम्।

३६—(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है,

ऐसा अर्थ करते हो तो किसका स्वरूप इससे जाना जाता है ? यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि—"तराजू और प्रतिमान-बाट सब ठीक-ठीक रखने चाहियें, और छः-छः महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे।" इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़, घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है। और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है। इसीसे आपका किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये।

३७—(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ?

३७—(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ?

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः। नैवं शक्यम्, पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात्। यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति। तद्यथा—केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं, पुराणो गुडः, पुराणी शाटी चेत्यर्थान्न नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते, तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति, न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति।

"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति", "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत", "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः"।

इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणन्नान्यस्येति साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति। परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः। यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम्।

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो, सो ठीक नहीं क्योंकि पुराण शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है। जैसे

पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते, वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं। जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी साड़ी, इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई। इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं।

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि--"ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं।" "अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने" "पुराणविद्यावेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने," अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें, इस प्रकार पुराण शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं, ऐसी साक्षी है। और वेद ही सब से पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं, यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तन्त्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं, वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९--(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ?

३९--(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?

४०--(उ०) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः। नैवं शक्यम्, कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद् भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति। यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते। कथं, होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात्—

"अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ १॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥"

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वात्कुतोऽर्थोऽसंगत एवेति निश्चयः। अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः।

४०--(उ०) मूर्ति को स्थापन करने, पूजने के स्थान, जिनमें कि घण्टानाद, आर्त्ति आदि करते हैं, उनको देवालय कहते हो, तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त होने से। इससे जिसमें होम किया जाता, वही स्थान 'देवालय' शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि 'देवपूजा' शब्द से होम का ग्रहण है।

धर्मशास्त्र में लिखा है कि--"पढ़ाना-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, वैश्वदेव-भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता, तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन,

यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये।" **इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है। यह मनु की साक्षी है। इससे आपका किया अर्थ असंगत है, यही निश्चय जानो।** इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये।

४१—(प्र०) **देवशब्देन किं गृह्यते ?**

४१—(प्र०) **देवशब्द से क्या लेते हो ?**

४२—(उ०) **ब्रह्माविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थास्तन्मूर्त्तींश्चेति गृह्णीमः। नैवं योग्यम्—**

"यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र" **इति निरुक्ते।** "मन्त्रमयी देवतेति" **पूर्वमीमांसायाम्। तथा** "मन्त्रमयी देवतेति" **ब्राह्मणे।** "आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" **मनुस्मृतौ।** "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" **इति तैत्तिरीयोपनिषदि।**

इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देव-देवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकाराद्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च—

"योऽन्यां देवतामुपास्ते स पशुरेव देवानाम्" ।। "उत्तिष्ठत जाग्रत" ।।
"तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" ।।

चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम्।

४२—(उ०) **पूजने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उनकी मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो, सो ठीक नहीं क्योंकि—**

"वेद में जहाँ-जहाँ देवता कहा है, वहाँ-वहाँ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है," **यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है, और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में—**"मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है।" **मनुस्मृति में—**"आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है, इसलिये आत्मा ही सब देवता है।" **तैत्तिरीय आरण्यक में—**"माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है"। **इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा** उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का ही स्वीकार है, **इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है।**

जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है, वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है। और उपनिषद् में यही कहा है कि—जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं में पशु ही है।" "इसलिये हे मनुष्यो! उठो जागो,"— "उस आत्मा को जानो, अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो।" इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियाँ कदापि देवता नहीं हो सकतीं, यह निश्चय जानो।

४३—(प्र०) देवलदेवलक शब्दाभ्यां किं गृह्यते ?

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ?

४४—(उ०) मूर्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः। नैवमुचितं वक्तुम्। कथं—

"यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते॥"

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्यते, तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निन्द्यः। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः। कुत्सितो देवलो देवलकः, 'कुत्सिते' इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम्।

४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्ति पूजने और मूर्तिपूजा से जीविका करने वाले देवल और देवलक कहाते हैं, तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि— "जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवस्व, और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है।" देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेनेवाला देवल निन्दित कहाता है। यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह देवलक अतिनिन्दित कहाता है क्योंकि व्याकरण के 'कुत्सिते' सूत्र से निन्दित अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, इससे आपका किया अर्थ मिथ्या है, यह जानना चाहिये।

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ?

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्म-मरण होते हैं वा नहीं ?

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो, नान्यथेति स्वीक्रियते। भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलनार्थञ्च। नैवन्न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति। सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति, स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन। यश्च शरीरधारणादिसहायेन

कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत् । यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्ष-रावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्म-स्थापनमधर्मदुष्टविनाशञ्च । यथा सर्वशक्तिमत्वोश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वादयोपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः । अन्यथा स्वनाशाद्यधर्म-मपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्याऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छसान्तञ्चास्ति, पुनस्तस्य का शरीरसामग्री, यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" । "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" । "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" । "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषस्स बाह्या-भ्यन्तरो ह्यजः" । "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् । अना-द्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" ॥ "अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" । "वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥"

इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः । ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ।

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्म-मरण से विलक्षण दिव्य जन्म-मरण होते हैं अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है । क्योंकि भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल, निष्कम्प है । जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है; फिर जो शरीरधारणादि सहाय से कार्य कर सके, अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है । तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो, वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होजावे, तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त, अजन्मा और अविकारी है ।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा, तुच्छ और अन्तवाला है। फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है, जिसमें वह समाय जावे। उससे बड़ा कोई भी नहीं, यह सब वेद-शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है ?

वेद और उपनिषदों के प्रमाण:—"वह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अच्छेद्य, अभेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप है।" "वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है।" "वह सत्यस्वरूप ज्ञान-स्वरूप और सबसे बड़ा अनन्त है।" "वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्ति से रहित, सबके बाहर-भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है।" "वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है। उसीको ठीक-ठीक जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है"। "वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है। इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होनेवाला है।" मनुष्य को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सब से बड़ा, पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाशवाला, अन्धकार से परे है। क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है।" इत्यादि **मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये।**

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ?

४७—(प्र०) **ईश्वर साकार है, वा निराकार ?**

४८—(उ०) निराकारश्चेति वदामः। निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत, तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति। मैवं वाच्यङ्कुतः, सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति। तद्यथा—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" ॥

आत्माऽऽकाशौ निराकारौ, तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते, तथा च स्थूलमयस्कांतपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था, इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः।

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वन्न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥"

इत्यादि श्रुतिभ्यः, हस्तपादाद्यङ्गं विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात् साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादिवाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ।

४८—(उ०) यदि कहो कि निराकार है, तो ठीक है। और जो निराकार होने में तुमको शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके ? और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके, सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं। इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है। जैसे प्रमाण—

"उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है।" इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार हैं। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु, और तिगणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है, इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख-दिखा सकते, इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है।

और—"विना हाथ-पग के शीघ्र ग्रहण करता, विना चक्षु के देखता, विना कान के सुनता, वह सब को जानता, उसका जाननेवाला कोई नहीं, उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं," इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं। ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है, साकार से साकार की उत्पत्ति होती है, हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता, इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है।

४९—(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ? मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

४९—(प्र०) ईश्वर मायावी है, वा नहीं ?, और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ?

५०—(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते। नैवं योग्यम्भवितुम्, कथं छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात्। कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किङ्गम्यतेऽयं छली कपटी चेति ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम्। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।

५०--(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि छल, कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है। कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है। ईश्वर—माया और अविद्यादि दोषों से रहित है, इसीसे निर्मल, निरञ्जन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वभाव ही है। ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—"अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है।"

५१—(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति, निर्गुणो वा ?

५१--(प्र०) ईश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

५२—(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः। तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोऽपि स एव। एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयगुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः—

"एको देवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।"

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम्।

५२--(उ०) ईश्वर सगुण-निर्गुण दोनों प्रकार से है, यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण, और जन्ममरण, जड़पन, अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। उपनिषद् में कहा है कि--"एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है। सबका अन्तर्यामी, सबका अध्यक्ष, सब प्राणि-अप्राणि जगत् का निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतन, केवल एक और निर्गुण है।"

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता, अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और स्वामी, ब्रह्मादि को सेवने योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है, ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो, वा नहीं ?

५४—(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः। चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ? ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते । नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः, सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनापि सा मुक्तिः सिद्धेति । सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् । सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा । कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् । सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति । कुतः, ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति । सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम् ।

का तर्हि मुक्तिरिति ? वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते । मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति । वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति । तद्यथा, यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्ब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः । "सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" इति मनुसाक्ष्यात् ।

५४—(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं । चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ? एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति, इत्यादि अर्थ लेते हैं । यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि को भी वह मुक्ति सिद्ध है । ओर सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सबके समीप में वर्त्तमान है, इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है । और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं । और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों को साधारण सिद्ध ही है क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उसमें व्याप्य होने से व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है । इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है ।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं, यह भी तुम्हारा कहना

ठीक नहीं क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा, तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है, अन्य नहीं। जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति 'मुक्ति' कहाती है। इससे आपकी मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो। क्योंकि—"परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है।" तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५—(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता, आहेस्वित्तद्विरोधिनः ?

५५—(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं, वा विरोधी ?

५६—(उ०) न पूर्वः, चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्। वेदविरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम्—

"पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्॥"

इति मनूक्तत्वात्। एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति। 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा' इति विवेकः। कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः।

५६—(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है। वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा है कि:—"पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे, बिडाल के स्वभाव से युक्त, शठ, स्वार्थी, बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखनेवालों का वाणी से भी सत्कार न करे।" ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं, किन्तु 'सम्प्रदाह' अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं। 'अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों, वे सम्प्रदाह कहाते हैं'। कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये।

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णःशरणं मम'। अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति, मिथ्या वेति ?

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है, वा मिथ्या ?

५८—(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति। वेदोक्त-

गायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ।

५८—(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है । वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आपको नास्तिकता और नरकप्राप्ति होगी ।

५९—(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ?

५९—(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ?

६०—(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति । नैवं शक्यं, कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिनस्त्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्तव्य इत्यर्थः । एवमेव **'नमो नारायणाय', 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'** इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद् भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः—**"श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेह पराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।"** सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् । कुतः, वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात् प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ।

६०—(उ०) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों, यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों, वा मेरे शरण को नष्ट करें, इत्यादि अर्थ भी सम्भव है । अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है, किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो । वैसे कोई "हिनस्तु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है । उसको तुम कैसे रोक सकोगे ?, इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक, अशुद्ध है । इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये । इसी प्रकार 'नमो नारायणाय ।' 'नमः शिवाय ।' 'नमो भगवते वासुदेवाय ।' 'ऐं ह्रीं

चामुण्डायै विच्चे' इत्यादि अक्षरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये । जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि—"श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग, उससे हुआ जो दुःख और क्लेश, उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त-धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूँ । और हे कृष्ण ? मैं तुम्हारा दास हूँ ।" सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं, कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ, ऐसा निश्चय कर सको । और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो, कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—(प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ?

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ?

६२—(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति, कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् । गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेऽप्यसभ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः । किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् । तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ।

'कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽह' मित्यादि, इदमशुद्धम् । कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च । पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभाव-विरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः । कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्ट-देहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः । तस्मै देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं, सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभावि-कत्वाच्च ।

समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव ।

कुतः, परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् । तद्धर्मश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ।

'आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मो' त्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः । एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव । दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति । 'शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्' इति मनुसाक्ष्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः । तद्यथा—

"श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ।। १।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषान्देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ।। २ ।।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ।। ३ ।।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनान्तस्माद् वर्जनमाचरेत् ।। ४ ।।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ।। ५ ।।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ।। ६ ।।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ।। ७ ।।

तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ।। ८ ।।

गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ।"

प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि । स इदानीं वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान्, किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति । किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः । 'साक्षाद्भगवता प्रोक्त' मिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति । तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च ।

सर्वदोषनिवृत्तिरिति, दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ? नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्य मनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते, नान्यः कश्चिदिति। हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः। कुतः, 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति' न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थेति निश्चयः।

सहजा इत्यादि, सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत, कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत्। सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात्। तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ?, लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते, भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते—

"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥"

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्। 'अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चने' त्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम्। कुतः, ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः।

अधर्मोपदेशोऽयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—'तस्मादादौ०' स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं, विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगि वस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः।

अथाऽस्य खण्डनम्—विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते, इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति ? तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् । तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य बल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः । ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं, कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ।

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं, तो यह ठीक सत्य नहीं क्योंकि जन्म-मरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा, उसमें जो वसते हैं, वे अहीरों के तुल्य मूर्ख, विद्याहीन, असभ्य जानने चाहियें और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहाँ जावेंगे, वे भी वैसे ही होते हैं, यह जानना चाहिये ।

और जो कहा था कि 'अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से तपा हुआ मैं हूं' इत्यादि, यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्तदोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश, काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरणवाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने-अपने साथ स्वाभाविक स्थित हैं, अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटाकर दूसरे को नहीं दिये जा सकते ।

यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है, तो मलमूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, यही प्रकट न्याय है । और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफलवाला ही है क्योंकि परस्त्री

का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा 'तद्धर्मान्' इसका पुलिङ्गनिर्देश और 'वित्तेहपराणि' इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध ही है क्योंकि पर शब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है।

'हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूँ' यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है। जब जीवात्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं है, तो फिर आत्मा के साथ 'देह' और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूँ, यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है। और 'दास' अर्थात् शूद्र हूँ, 'शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये', यह मनुस्मृति की साक्षी है। सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है—

"(श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है, उसको ज्यों-का त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेने से सबके जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है और दोष पाँच प्रकार के हैं—एक सहज स्वाभाविक, २—देश से हुए, ३—कालभेद से हुए, ४—लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५—वेद में कहे। ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं। इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मन्त्र से हो सकती है। परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होनेवाले दोषों को न मानना चाहिये, अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण कर वैसे ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये। इससे गुसांइयों के चेले निवेदन करने की वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें, यही नियम है। देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसांई के चेले किसी वस्तु को भोगें, और समर्पण यही है कि स्वामी गुसांईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें। इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है। वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें। गुसांईजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसांईजी के चेला-चेली कभी न सुनें। जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, वैसा होना चाहिये। वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करे। जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें।"

हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते। जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांच हजार वर्ष व्यतीत हुए, सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा ? किन्तु कदापि नहीं कहा, केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। 'साक्षात् भगवान् ने कहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक अक्षर समुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है।

और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहाँ जावेंगे? यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे, तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप-दोष हरि (कृष्ण) को प्राप्त हों, तो उसके दुःखरूप नरकफल भोगनेवाले हरि ही होवें, यह निश्चय है। क्योंकि 'स्वयं किये हुए पाप-पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है,' इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति हो जावे, क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता, वैसे आत्मा भी न रहेगा। सबके समर्पण करने में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती। इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं। और ब्रह्म-सम्बन्ध से देश-काल के परिवर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के माननेवाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को—तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को—क्या नहीं मानने चाहियें?

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं। नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि—"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है। और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, यह रचना भांग पीकर के ही की है, यह जानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है। इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये, यह निश्चय है।

और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—"जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का 'समर्पण' अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का भी समर्पण करें। विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब

काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये । समर्पण करके उन-उन वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें ।"

इसका खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री-पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण करके ही पश्चात् अपने भोगसम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री, कन्या, भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं, इससे नहीं करते, तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ? यदि कहो कि उनका हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है, तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ?

सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ, उनका परस्पर समर्पण हो ही गया, अन्यथा नहीं हो सकता, यह जानो । इससे व्यभिचारमय उपदेशों-वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये, यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते हैं, वा करेंगे, उनको नरक की प्राप्ति ही फल होना सम्भव है क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है ।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या । पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था, उताऽधर्माचरणार्था ? नाद्यः कुतो वल्लभादीनामिदानीन्त-नान्तानां परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् । अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुन-माचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते, नान्यथा । भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते ।

अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह—'वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति ।' अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति, कुतः, लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात् । तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात् ।

यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा । तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद् व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् । पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां, तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः । आर्त्ति-र्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्तिकारः । गोशब्देन पशुगुणवान् साईंशब्देन यवनाऽऽचार्यः । अयं गोसांय्याख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्योर्विवेको न

भवेत्त्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तन्धर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति । वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्द्दभो मध्यस्थो वेति वावाजिशब्दार्थः । रागोऽस्यास्तीति रागी, वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः । दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत् । हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्याद्योऽर्थाः । इत्यादि शब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादि सम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः ।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है, यह भी वैसा ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है, वा अधर्माचरण के अर्थ ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है । घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं । आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं ।

इस विषय में वल्लभ कहता है कि—'लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत है, इसीसे वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक-वैदिक विषय कपट में गिना है । वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें ।

'विष्णु' शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है । यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये । 'पूजा' नाम सत्पुरुषों का सत्कार, उसका जो अरि नाम शत्रु, यह पूजारी शब्द का अर्थ है । 'आर्ति' नाम दुःख को जो करे, वह आर्तिकर्त्ता कहाता है । 'गो' नामक पशुगुणयुक्त, 'सांई' शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे, वह गोसांई कहाता है । वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं, इसीसे गोसांई कहाते हो । 'वाजी' नाम घोड़ा, दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर,

यह "बाबाजी" शब्द का अर्थ है। 'राग' जिसमें हो वह रागी, 'वै' नाम निश्चय कर जो रागी हो, उसको "वैरागी" कहते हैं। यही वैरागी शब्द का अर्थ है। 'दण्ड' नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो, उसको "दण्डवत्" कहते हैं, यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है। काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि "हिन्दू" शब्द का अर्थ है। इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार, विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अब तक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त हैं। यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है, यह निश्चित है।

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते—शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?, द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव। यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति च। नैवञ्छक्यं वक्तुम्, कुतः, अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव। यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद् ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ? तथा च जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च। तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम्।

द्वीतमिति, 'द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा। सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।' **इति वल्लभप्रबुक्कनन्द्रष्टव्यम्। द्विधाकारणकार्यरूपेण परिणतञ्चेत्तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः। पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः परिणामः। तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वर-पीडादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता, अत एव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम्।**

वल्लभेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन। तज्जलानिति शान्त उपासीते' **त्यादिश्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः। कुतः, विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः। यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं**

सुवर्णमिह नाना पित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति, तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति। किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद् ब्रह्मणश्चेति। यथाऽ'यमात्माब्रह्म' त्यत्रेदं शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं, न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च, तथा 'तज्जलानिति' ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत। तस्माद् ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा ?

"सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः।
सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥ १ ॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥ २ ॥
साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।
सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥ ३ ॥
शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥ ४ ॥"

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः।

कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः, कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात्। षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः, द्वौ चेद्वस्तुनो न कदाचिदेकता। अवास्तवौ द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम्। शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोः स्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थात् मैथुनसमये द्वैतं, स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते। 'अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम' इत्यादि पतितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः। कुतः, लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः, स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः, तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद् गृही, तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टकर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते। येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं कुर्वन्तीमान् गुरूंश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा ऐवेति विज्ञातव्यम्। एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति, नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।। १ ।।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।। २ ।।"

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्त्तेत स आततायी विज्ञेयः ।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं:—शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो ? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता, जो द्वीत है वही द्वैत, और जो द्वैत न हो वह अद्वैत—कार्य-कारण का एकरूप होना है । अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री-पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ । यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्‌रूप होना अयोग्य ही है । यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है, वह ब्रह्म ही है तो अनन्त विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें, इससे बन्ध, नरक, दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें । इससे वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये ।

और द्वीत, द्वैत एक ही बात है, द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है । यह वल्लभ का भूंकना है । कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है, तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे । पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है, वैसे ही आपके मत में ब्रह्म ही जगत्‌रूप बन गया । इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या, ज्वर, पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये, इसीसे आपका मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है, यह जानना चाहिये ।

वल्लभ ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म०' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है, उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है । जैसे किसी ने कहा कि सब यह सुवर्ण है, इसमें अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं, वैसे सच्चिदानन्द-स्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं, किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है, ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस, अखण्ड और अभेद्य है । जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में 'इदम्' शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता । 'तज्जलान् इति ब्रह्म', "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता, "तदन्" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है, इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे । अर्थात् इस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं । इस प्रकार से

ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं। यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है ?

"यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह पहले ही जताया है। 'सर्व' शब्द से जितना देखा-सुना यह जगत् है, वह सब जानना, इससे वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है। क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार, सर्वशक्तियुक्त, एक, सर्वज्ञ और सबका रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी से यह जगत् हुआ है।" इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं, यह निश्चय जानो।

शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकारण के एकस्वरूप एकात्मक गुणवाले न होने से असङ्गत है। षष्ठी-तत्पुरुष समास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं, उनकी एकता क्योंकर हो सकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं, तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है, इससे शुद्धपुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समाज भी असङ्गत है, अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। 'मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे' इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना चाहिये। क्योंकि इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ। उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया। इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहले कुत्ते के तुल्य 'वान्ताशी' अर्थात् उगले हुए को खानेवाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया। पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ। इसने पहले विष्णु-स्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया, इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

इनके आदिपुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है, तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं, वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता, अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है, पाप नहीं। इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:—"गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों, तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता। चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में; सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है, किन्तु हिंसा नहीं कहाती"। धर्म को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो, वह आततायी कहाता है।

(प्र०)—शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उतान्धकाररूपम् ?

(प्र०) शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है, वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ?

(उ०)—नाद्यः, कुतः, स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थ-सूर्यपेक्षाभावात् । न चरमः, स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपश्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् । एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् । अत एव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् । विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ? किन्तु परस्त्रीगमन-परधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम् । तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते—'निजमुरलिकेति,' मुरलिकानादेन तेनागता गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम् । प्रतिलक्षणे, युवतिं-युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वा-द्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव । कुतः, मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात् ।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम् । तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव । तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या । तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति । अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति । पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीरान्निसृत्यै-कैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे ।

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता । प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति । 'प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत' इत्यादिश्रुतिषु वर्णितम् । तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा ? पुनर्महाप्रभु-शब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते, यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽव-गन्तव्यः । यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणा-पत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक् ।।

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः ।।

(उ०)—प्रकाशरूप होना, पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि यदि स्वभाव

से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से **मार्तण्ड** नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे। सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके, सो सम्भव नहीं। स्वभाव से अन्धकारस्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकारस्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे। इस प्रकार **सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड** का भी खण्डन जानो। इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड' इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है। ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है?

इसी प्रकार **विद्वन्मण्डन** नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो। जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था, तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है? किन्तु परस्त्रीगमन, पराया धन हरना और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था, अन्य किसी कार्य में नहीं। सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं— **विट्ठलकृत विद्वन्मण्डन** नामक ग्रन्थ में 'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुन के गोकुल की सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया। अर्थात् युवति-युवति स्त्रियों को देख कर, जितनी गोपों की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया, इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से 'विद्वन्मण्डन' नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्खता, व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है।

इसी प्रकार **'अणुभाष्य'** भी असङ्गत ही है। और ऐसे ही **'रस-भावना'** आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—'राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन-रात क्रीड़ा करते हैं। सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक-एक स्त्री को एक-एक पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।'

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है। प्रभु नाम ईश्वर का है। 'प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है' यह वेद में कहा। जब उस ईश्वर के तुल्य अब तक न कोई हुआ, न होगा, तो उससे अधिक कौन हो सकता है। फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है, वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं। इति शुभम्॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामि-
निर्मितस्तच्छिष्यभीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च
वेदविरुद्धमतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः॥